हिन्दी-काव्य
और
अरविन्द-दर्शन

हिन्दी-काव्य
और
अरविन्द-दर्शन

डॉ० प्रतापसिंह चौहान एम० ए०, पी एच० डी०

युगवाणी



प्रकाशन

युगवाणी प्रकाशन

युगवाणी प्रकाशन, कानपुर

मूल्य :
पन्द्रह रुपये केवल

पुस्तक : हिन्दी-काव्य और अरविन्द-दर्शन
लेखक : डा० प्रतापसिंह चौहान एम ए, पी एच डी
प्रकाशक : युगवाणी प्रकाशन,
१०७/६६ जवाहरनगर, कानपुर
मुद्रक : अनुपम प्रेस, चन्द्रिका देवी रोड, कानपुर

आदरणीय डॉ० भगीरथ मिश्र
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, पूना विश्वविद्यालय
को
सादर समर्पित

प्राक्कथन

भारतीय वाङ्मय के सम्यक अध्ययन से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह विचार की एक ऐसी अविभाज्य शृंखला म अनुस्यूत है कि जिसे पृथक् रूप से देखने से उसकी मौलिकता एव प्रवाह अविकल नही रह सकते। धम, अथ, व्याकरण, साहित्य, वैद्यक, ज्यातिष, योग, तत्र तथा ललित कला आदि सभी के रूप की चरमावस्था को ब्रह्म क रूप मे देखने अथवा उन्हे ब्रह्म तक पहुँचाने का अदम्य प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इससे मैं इस निष्कप पर पहुँचा कि जगत के समग्र विग्रह को ब्रह्म के रूप में देखने अथवा उस चरम तक पहुचाने का यह प्रयास जहाँ एक ओर सत्य के साक्षात्कार की उदघोषणा करता है, वही वह समग्र विश्व की मौलिक एकता का भी परिचायक है। इन दोनो बातों का ऋजु सबध दशन से सहज ही जोडा जा सकता है, अर्थात् य दोनों विषय अत्यन्त प्राचीनकाल से दशन के परिवेश में परिगणित होते रहे हैं। इस प्रबध मे अरविंद दशन के सदभ और परिवेश में आधुनिक हिंदी काव्य क अध्ययन की चेष्टा उसी वरिष्ठ परम्परा के अन्तगत मानी जानी चाहिये। यही इस प्रबध की उपयोगिता है।

इस प्रबध की उपलब्धि के विषय म भी सक्षेप म विचार कर लेना अप्रासगिक न होगा। आधुनिक कवियों के काव्य का अध्ययन करते समय मुझे कुछ ऐसे विचार सूत्र उपलब्ध हुये हैं जिनका सबध प्राचीन दाशनिक मान्यताओं से, आसानी से, जोडा जा सकता है। विशेषरूप से छायावादी कवियों के काव्य में अनेक दाशनिक सिद्धान्तों का सन्निवेश दृष्टिगोचर होता है। इस अध्ययन में मुझे कहीं तो इस दाशनिक धारा का अबाध प्रवाह मिला है और कहीं उसकी धारा मन्द होती हुई दृष्टिगोचर हुई है। किन्तु वह अपन अबाध और मन्द प्रवाह म वैचारिकता को पुरस्सर करती गयी है धरती और मानव की समस्याओं का निदान करती गयी है। छायाकाल में उसने मानवता के सकट का निदान कभी अद्वैत दशन, कभी विशिष्टाद्वैत दर्शन, कभी प्रत्यभिज्ञा दर्शन तो कभी द्वैत दशन के सिद्धान्तों के अतर्गत देखा,

प्रगतिकाल म वह मार्क्स की विचारधारा स अत्यधिक प्रभावित हुई। अब उसकी एक क्षीण तरग श्री अरविन्द दशन का सस्पश करने लगी है। मुझ यह दिन दूर नही लगता, जब हिन्दी काव्य श्री अरविन्द दशन से पूणतया आविष्ट हो जायगा। ऐसा इसलिए नहो होगा कि उसे किसी दाशनिक प्रक्रिया के प्रति पूणरूप स समर्पित हो जाना आवश्यक है, वरन् ऐसा इसलिये होगा कि अरविन्द दशन ऐहिक और पारलोकिक समस्याओ के लिए एक सतुलित दृष्टिकोण उपस्थित करता है और दशन तथा काव्य दोना का चरम लक्ष्य परमानन्द की उपलब्धि है। अतएव, आधुनिक हिन्दी काव्य पर श्री अरविन्द दशन के प्रभाव का अध्ययन इस प्रबन्ध की सब से बडी उपलब्धि मानी जानी चाहिये। इस विषय का इतना विस्तृत तथा इतना सम्यक अध्ययन हिन्दी साहित्य के अन्तगत इसके पूर्व प्रस्तुत नहीं किया गया। इस प्रबन्ध को आठ अध्याया म विभक्त किया गया है तथा उपसहार म उसकी सभावनाओं पर प्रकाश डाला गया है।

मैं प्रबन्ध के लेखन मे कितना सफल हुआ हू, इसका निणय तो सुधीजन ही करेंगे। इस प्रबन्ध के लिखने म जिन गुरुजनो और मित्रो की अहेतुकी सहायता मिली है, उनके प्रति आभार प्रकट करना औपचारिकता मात्र होगी, क्योंकि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'आभार प्रदशन' द्वारा श्रद्धा स्नेह का वह शाश्वत धागा टूट जायगा, जिसम बधा हुआ मैं आनन्द और गव का अनुभव करता रहा हू। अतएव इस स्थल पर उनके नाम स्मरण द्वारा ही सन्तोष कर रहा हू।

परमादरणीय डा० भगीरथ मिश्र, अध्यक्ष हिन्दी विभाग पूना विश्व विद्यालय के निर्देशन म यह प्रबध लिखा गया है उनके सुझावों और अन्य प्रकार की अमूल्य सहायताओं स मैं अतिशय लाभान्वित हुआ हू। आदरणीय डा० जगदेवसिंह का दशन शास्त्र का महासागर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। अरविन्द दशन को समझने तथा साहित्य सौन्दय की सूक्ष्मताओं के अध्ययन म तो मुझे उनस सहायता मिली ही है साथ ही उनके विशाल पुस्तकालय का भी मैंने उपयोग किया है। प्रोफेसर सत्यप्रसाद सिंह (अध्यक्ष अग्रेजी विभाग डी० ए० वी० कालेज, कानपुर) की अहैतुकी कृपा के कारण मुझे डा० ए० वी० कालेज के पुस्तकालय म जा सहायता प्राप्त हुई है उसके लिए मैं उनका हृदय स अनुगृहीत हू।

हिन्दी के मूध य समीक्षक सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष आदरणीय आचाय नन्ददुलारे वाजपेयी के सुझावों स मैं केवल लाभान्वित ही नहीं हुआ हू, वरन उन्होंने अतिशय कृपा करके इस प्रबन्ध का आद्यन्त अवलोकन भी

इन गुरुजनों के अतिरिक्त उन मित्रों के नाम को भी भुलाया नहीं जा सकता, जो अपने सुझावों तथा अन्य सहायताओं के लिए सदैव प्रसन्न वदन तत्पर रहे हैं। उनमें चिर स्मरणीय रहेंगे डा० रामसुरेश त्रिपाठी, रीडर, संस्कृत विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, डा० लक्ष्मी नारायण शर्मा, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, युवराज दत्त कालेज लखीमपुर, खीरी तथा डा० जगदीश नारायण त्रिपाठी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग डी० एन० कालेज, फतेहगढ़।

समाजशास्त्र के ख्यातनामा लेखक श्री शम्भूरत्न त्रिपाठी का सहयोग प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन प्रकाशन में आद्यन्त रहा है, किन्तु अभिन्न हृदय नैकट्य के कारण धन्यवादादि की औपचारिकता अनपेक्षित प्रतीत होती है।

१ जुलाई १९६५
युवराजदत्त कालेज
लखीमपुर (खीरी)

—प्रतापसिंह चौहान



विषय-सूची

●

१ परम्परागत दार्शनिक पृष्ठभूमि और अरविन्द-दर्शन पर उसका प्रभाव

विपय-सूची



७ हिन्दी की मानववादी काव्य-धारा और अरविन्द-दर्शन २८६

८ शैलीगत प्रभाव ३१७



१

परपरागत दार्शनिक पृष्ठभूमि और अरविन्द-दर्शन पर उसका प्रभाव

अरविन्द-दर्शन को प्रभावित करने वाले भारतीय सिद्धान्तो का संक्षिप्त परिचय

श्री अरविन्द के दार्शनिक सिद्धान्तो का स्वर आस्थावादी है। ब्रह्म, जीव प्रकृति ईश्वर माया और आत्मा के प्रति उनका पूर्ण विश्वास है। यह दूसरी बात है कि वे इन सबको चैतन्य के विविध अवस्थाक्रम में सूचित करके परम चैतन्य अथवा ब्रह्म का ही रूप मानते हैं और उनकी पृथक सत्ता को स्वीकार नही करते। अतएव इससे यह पूर्ण स्पष्ट है कि उनकी दार्शनिक विचार धारा पर वैदिक दर्शन सांख्य योग-दर्शन, मीमांसा दर्शन, काश्मीरी शैव-दर्शन आदि आत्म-वादी दर्शनो तथा बौद्ध दर्शन, जैन-दर्शन का किसी न किसी रूप मे प्रभाव पड़ा है। यहा यह देखने का प्रयास किया जा रहा है कि उनकी दार्शनिक विचार-सारणि किस सीमा तक उपयुक्त दर्शनो से प्रभावित रही है। साथ ही इस बात की भी चेष्टा की जा रही है कि श्री अरविन्द की ब्रह्म जीव जीवन आदि के सम्बन्ध में क्या मान्यता है ?

[अ] वैदिक दर्शन

वैदिक दर्शन का आयाम वेद, ब्राह्मण, उपनिषद और गीता के सिद्धान्तो द्वारा सम्बद्ध माना जाता है। अतएव उपयुक्त क्रम के अनुसार ही वैदिक दर्शन के सिद्धान्तो का संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जा रहा है।

(१) वेदों का दार्शनिक चिंतन—भारतवर्ष की दार्शनिक परपरा के पुष्ट-बीज हमे आर्यों के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेदो से ही प्राप्त है। दार्शनिक सिद्धान्तो द्वारा दुःख के आत्यंतिक निरसन का प्रयास ही दार्शनिक विचार धारा के इतना प्राचीन होने का कारण प्रतीत होता है। मानव ने अपने जन्म के साथ-साथ ही अपने को सुख दुःख के युग्म में आबद्ध पाया। दुःखो की अतिशयता के फलस्वरूप आ मसताप और पीडायें हुई होगी उनसे चिर विमुक्ति के लिए उसने तभी से अभियान प्रारंभ कर दिया होगा। उसके उन प्राथमिक अभियानो का विवरण संसार के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थो (वेदो) में अंकित प्राप्त होता है।

(२) वेदों में दार्शनिक विचारधारा के प्रकार—वेदों के अन्तर्गत दार्शनिक विचारधारा का स्वरूप विविध प्राप्त होता है। उस विभाजन को हम कर्म और ज्ञान काण्ड के नामों से जानते हैं। कर्म काण्ड के अन्तर्गत उपासनाओं का तथा ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आध्यात्मिक चिन्तन का रूप प्राप्त होता है। इस विभाजन का मूल हेतु यह प्रतीत होता है कि सब प्रथम साधक अथवा जिज्ञासु सदाचार के नियमों के पालन के द्वारा अपने अन्तःकरण की परिशुद्धि करले जिससे उसकी मनोभूमि अध्यात्म बीज के वपन करने योग्य हो जाय। वेदों में जितनी उपासनाओं का उल्लेख हुआ है उन सबका पालन सभी के लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि इन कर्मों में कुछ तो ऐसे हैं जिनके करने से कोई पुण्य अथवा अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु न करने से पाप होता है, जैसे सन्ध्योपासना आदि और कुछ अश्वमेध आदि नैमित्तिक अथवा काम्य कर्म हैं जिनके करने से फल की प्राप्ति तो होती है किन्तु न करने से किसी प्रकार की हानि नहीं होती। इन काम्य तथा नैमित्तिक कर्मों को करने की वेद सभी को आज्ञा नहीं देता। अस्तु अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार जिज्ञासु को इन कर्मों के सम्पादन द्वारा सफलता प्राप्त होती है और अनाधिकार चेष्टा करने से जिज्ञासु सफल नहीं होता तथा उसे अनेक विघ्न बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

अन्तःकरण को परिशुद्ध करने के लिए जिज्ञासु को किसी न किसी उपासना का अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार आश्रय अवश्य लेना चाहिए। यदि जिज्ञासु किसी उपासना का अवलंब नहीं लेता तो उसके हृदय में ज्ञान की ज्योति का प्रकाश नहीं होगा और न वह आत्मोपलब्धि कर सकता है। किन्तु उपासना अथवा कर्म का वैदिक सिद्धान्त यद्यपि पुष्ट चिन्तन-सरणि के कारण दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत ही आता है। किन्तु फिर भी इसे आनुषंगिक ही समझना चाहिये क्योंकि इसमें मूल रूप से आध्यात्मिक विचार नहीं किया गया है।

(३) परम ज्योति अथवा आत्मा का अन्वेषण—कर्म-काण्ड के उपर्युक्त साधना के द्वारा जब वैदिक ऋषियों ने अपने दुःखों की पूर्ण निवृत्ति करने में अपने को असमर्थ पाया होगा तो प्रकृत्या उन्होंने दैवी शक्तियों की शरण ली होगी। दैवी शक्तियों में आदित्य को अत्यधिक जाज्वल्यमान तथा प्रभावशाली देखकर उन्होंने अपने दुःखों की निवृत्ति के लिए प्रार्थना की होगी। ऋग्वेदान्तगत उनकी यह स्तुति 'हे आदित्य ! मुझे दाहिने और बाएँ का ज्ञान नहीं है मैं पूर्व और पश्चिम दिशाओं को नहीं जानता। मेरा ज्ञान परिपक्व नहीं है और (ज्ञान के बिना) मैं मूढ़ और हतोत्साह हो गया हूँ यदि आप की कृपा हो तो मैं अवश्य ही उस अभय-ज्योति को प्राप्त कर सकता हूँ।'[1] उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति की परिचायिका तो है ही साथ ही उस अभय-ज्योति (आत्मा) की सर्वसमर्थ शक्ति के रूप में मान्यता की भी

१—ऋग्वेद—२—२७—११।

योनिका है। ऋग्वेद् के एक अन्य मन्त्र (९—२७—१४) में भी इस (अभय ज्योति) की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है। किन्तु इस परम तत्व अथवा आत्मा की उपलब्धि बिना आत्म-समर्पण के असंभव है। अस्तु इस परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधक को अनेक मन्त्रों में आत्म-समर्पण के लिए बता दिया गया है क्योंकि बिना पूर्ण आत्म समर्पण के अहंकार का पूर्ण निरसन नहीं हो सकता और अहंकार के बिना नष्ट हुए मोह दूर नहीं हो सकता और बिना मोह निवृत्ति के आत्म-लाभ असंभव है।

वेद के संहिता भाग के पढ़ने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि तत्कालीन व्यक्ति संसार के विषय में पूर्णतया अवगत थे। वे मृत्यु से डरते थे और दीर्घ जीवन के लिए देवताओं की प्रार्थना करते थे।[१] वे सुख-दुःख ज्ञान-अज्ञान नित्य अनित्य अजर-अमर तथा इस लोक-परलोक के विषय में पूर्ण अवगत थे और इसी हेतु वे अभय-ज्योति-स्वरूप परमात्मा के ज्ञान के लिए देवताओं की प्रार्थना करते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें यह भी भलाभाँति ज्ञात था कि उपासना के समय साधक साध्य के साथ अभिन्न हो जाता है।[२] अर्थात् दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जीवात्मा का परमात्मा के साथ तादात्म्य उपस्थित हो जाना ही मानव का चिर अभीष्ट है और वैदिक युग के लोग इस तथ्य से पूर्ण परिचित थे। उपर्युक्त उल्लेख से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष में दार्शनिक विचार धारा सृष्टि के प्रारंभ से ही विद्यमान है और साधक अपने दुःखों की निवृत्ति के लिए अपनी उत्कट उपासनाओं द्वारा देवताओं के दुःखों के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए तत्पर रहते थे।[३]

(४) वेद में सृष्टि विचार—आत्मा और परमात्मा की अवस्थिति के चिन्तन के साथ-साथ ही जगत् अथवा सृष्टि की उत्पत्ति का विचार भी दार्शनिक चिंता धारा का महत्वपूर्ण अंग रहा है। वेद में जगत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। कहीं पर अग्नि से, कहीं सोम से कहीं त्वष्टा' से कहीं कहीं इन्द्र से और कहीं विश्वकर्मा और वरुण से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है।

इन विभिन्न मतों के मूल में जो तथ्य सन्निहित दृष्टिगोचर होता है, वह है अपने-अपने इष्ट देवों को सब श्रेष्ठ और सर्वाधिक महान् मानना। बस यदि हम दार्शनिक दृष्टि से देखें तो सृष्टि की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म का अंश होने के कारण ब्रह्म ही है। इसी लिए साधना की चरमावस्था में उनके इष्ट और ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं दृष्टिगोचर होता था। इस प्रकार अभेद बुद्धि के उदाहरण ऋग्वेद में ही विद्यमान हैं।[४]

१—ऋग्वेद, १०—१६४—४, अथर्व वेद, ३—२—४ तथा २०—९६—९।
२—यजुर्वेद, १—५—१०।
३—यजुर्वेद, १—५—१०।
४—ऋग्वेद १—७।

नासदीय सूक्त[१] तो वस्तुतः दार्शनिक सूक्त ही है। इस सूक्त में सृष्टि रचना का विशद विवरण प्राप्त होता है। इस सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में न असत् था और न सत् और न अन्तरिक्ष और व्योम ही थे। उस समय मृत्यु का भी भय नहीं था। केवल वह एक था और उसके अतिरिक्त और कुछ न था। सर्वत्र गहन अंधकार का आच्छादन था। जल था प्राण नहीं था इत्यादि ऋग्वेद में सृष्टि के विषय में विचार प्राप्त होते हैं। इस सूक्त से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में कोई एक अव्यक्त चेतन था जिसके द्वारा पश्चात्-सृष्टि की विचित्रता पूर्ण रचना हुई। ऋग्वेद में उस अव्यक्त चेतन का वर्णन किया गया है। वस्तुतः 'तपस सर्वव्यापी शक्ति का नाम है इसी के द्वारा ज्ञान इच्छा और क्रिया शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है। ठीक इसी भावना का उल्लेख ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में भी प्राप्त होता है।[२]

(४) वेद के मन्त्र भाग अथवा संहिता भाग के दर्शन का निरूपण—वेदों के अन्तर्गत नैतिक और नैमित्तिक अथवा काम्य कर्मों का विषय कर्म के दर्शन के रूप में प्राप्त होता है।

वेदों के अन्तर्गत परमात्मतत्व का उल्लेख अभय ज्योति तथा एक व्यापक शक्ति जो सभी को जन्म देती है के रूप में प्राप्त होता है[३]। इन्द्र ही वह परम शक्ति है जो कभी अग्नि कभी सूर्य कभी वायु के रूप में वर्णित है। अन्तरिक्ष और नक्षत्र भी इन्हीं इन्द्र के रूप हैं।[४]

वेदान्तर्गत सृष्टि की उत्पत्ति अग्नि में मानी गयी है। त्वष्टा ने जीवों को तथा इन्द्र ने समस्त पृथ्वी और अन्तरिक्ष को उत्पन्न किया। कहीं कहीं विश्वकर्मा और वरुण को भी स्रष्टा के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु इन सबके मूल में अपने इष्ट को ब्रह्म अथवा सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में देखने का भाव सन्निहित रहा है। वस्तुतः स्रष्टा एक ही है चाहे उसे इन्द्र कहो चाहे अग्नि अथवा किसी अन्य देवता या शक्ति के नाम से सम्बोधित करो।

वेदों (संहिता भाग) के अन्तर्गत कर्म के दार्शनिक सिद्धान्त का महत्वपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। पूर्व जन्म के कर्मों से मुक्ति मिल जाय इसलिए व्यक्ति के लिए प्रार्थना का विधान है।[५] संचित तथा प्रारब्ध कर्मों का उल्लेख भी मन्त्रों में प्राप्त होता

१—ऋग्वेद १०—७२—२—४।
२—ऋग्वेद, १—३—१०—१२।
३—यजुर्वेद १६ अध्याय (पुरुष सूक्त)
४—सायण भाष्य
५—ऋग्वेद, ६—२—११

है[1]। देवयान' तथा 'पितृयान' मार्गों का भी विस्तृत विचार वेद में प्राप्त होता है[2]। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के अन्तर्गत नीच कर्मों को करने वाले किस प्रकार वृक्ष लतादि स्थावर शरीरों को प्राप्त करते हैं का विशदता के साथ उल्लेख मिलता है[3]।

(६) आत्म तत्व का विकास—वेदों के संहिता भाग में क्रम से पृथक् आत्मा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। इससे सिद्ध होता है परमात्मा से भिन्न आत्मा के स्वरूपनिर्धारण की चेष्टा बाद में हुई। आत्मा की शोध के लिए जो भी प्रयत्न किए गये होंगे, उनका मूलाधार व्यक्ति की दुःख निवृत्ति ही रही होगी[4]। ब्रह्म व्यापारों में जब जिज्ञासु को अपने दुःख की निवृत्ति का निदान न मिला होगा तो उसने अपने आभ्यंतर की छान-बीन करनी आरम्भ की होगी और उसकी इस प्रकार की शोध का परिणाम आत्म-लाभ रहा[5] है। आत्मोपलब्धि के साथ-साथ उसके सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति भी हो गयी होगी[6]।

यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा गया है, वेदों के संहिता भाग में जिज्ञासु भिन्न भिन्न देवताओं की स्तुतियों के द्वारा उन देवताओं को (इन्द्र वरुण, पूषन आदि) अपनी दुःख निवृत्ति का कारण जान कर उन्हें ही आत्मा समझने लगे। वेदों के संहिता भाग में आत्मा के विषय में इससे अधिक विचार नहीं प्राप्त होता। किन्तु, वेदों के पश्चात ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यज्ञ विधान की ही विशेष प्रतिष्ठा रही है और आत्मा के अन्वेषण की प्रगति प्राय गौण ही है।

[ब] ब्राह्मण तथा आरण्यक

(१) आत्मा का स्वरूप—*जैसा कि ऊपर कहा गया है ब्राह्मण ग्रन्थों में आत्मा* सम्बन्धी विचार अथवा अन्य दार्शनिक उपपत्तियों का अभाव है। किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों की भांति वेद का अपना अपना आरण्यक ग्रन्थ भी है। ये ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों के सहायक हैं और ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित यज्ञों के रहस्य का उद्घाटन करते हैं। इन ग्रन्थों में दार्शनिक विचारणाओं का विशेष उल्लेख प्राप्त होता है। यही कारण है कि अनेक महत्वपूर्ण उपनिषद् आरण्यक-ग्रन्थों के ही भाग हैं। जैसे 'ऐतरेय उपनिषद्' ऐतरेय

१—ऋग्वेद ३—३८—२, १—१६४—२०।
२—ऋग्वेद, ६—२—११
३—ऋग्वेद, ३—३८—२, १—१६४—२०
४—ऋग्वेद ३—५५—१५
५—ऋग्वेद, ७—८—३, ७—१०१—६, ७—१०२—२।
६—डा० उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन।
(अ) डा० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, वाल्यूम १, पृष्ठ १६९।

ब्राह्मण का कौषीतकि उपनिषद क्योंकि आरण्यक का और महानारायण उपनिषद' तैत्तरीय आरण्यक का भाग है। शतपथ ब्राह्मण के चतुर्थ खण्ड का कुछ भाग 'आरण्यक' कहलाता है और इसी आरण्यक के अंतिम छः अध्याय वृहदारण्यक नामक महत्वपूर्ण उपनिषद है।

जमिनीय ब्राह्मण म विविध प्रकार क यज्ञा का पर्यवसान एव विष्णुरूप म हो गया। जब विष्णु को ही यज्ञ मान कर उन्हा की उपासना म परम पद की प्राप्ति समझी जाने लगी[1]। इसके अतिरिक्त केनोपनिषद म यक्ष तथा देवताओं के संवाद का भी यही निष्कर्ष है कि देवताओं म आत्मा भिन्न है।

इस प्रकार ब्रह्म-तत्व अथवा आत्म-तत्व का सर्व प्रथम परिचय हम ब्राह्मण ग्रन्था म ही पाते है। पहले-पहल साधका ने मित्र वृहस्पति वायु तथा यज्ञ को ब्रह्म के रूप म समझा[2]। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बाद का भक्ता ने ब्रह्म स देवताओं की उत्पत्ति मानी। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्था म हम ब्रह्म का स्वरूप व्यापक रूप स मिलता है। किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्था म आत्मा ब्रह्म स भिन्न ही तत्व रही है। उस समय तक ब्रह्म और आत्मा म अभेद नहीं उपस्थित हो सका था। हाँ ब्रह्म देवताओं स अभिन्न और उनका उत्पन्न करने वाला अवश्य माना जाता था। वह देवस्वरूप सर्वव्यापक स्वतन्त्र तत्व क रूप म प्रतिष्ठित था। आत्मा देवताओं म भिन्न एव विशेष तत्व के रूप म स्वीकृत था।

आरण्यकों म ब्राह्मण के तीन स्वरूपो का उल्लेख प्राप्त होता है—(१) स्थूल रूप पथ्वी आदि क रूप म (२) सूक्ष्म रूप मनस् आदि के रूप म तथा (३) शुद्ध स्वरूप प्रणव के रूप म[3]। ब्रह्म का स्वरूप ज्ञानियो के लिए सत तथा अज्ञानियो क लिए असत है। प्रणव जो ब्रह्म का ही स्वरूप है स स्थावर तथा जगम रूप से जगत् की उत्पत्ति होती है और वह पुन उसी म लय हो जाती[4] है। यही प्रणव सत्य और ज्ञान है तथा इसका स्वरूप अनन्त है[5]। इसकी अभिव्यक्ति परम प्रकाश मे होती है और इसी क दर्शन से मुक्ति प्राप्त होती है[6]।

आरण्यक के उपर्युक्त वर्णनस यह प्रकट होता है कि ब्रह्मन् की मान्यता क्रमश

१—जमिनीय ब्राह्मण, २—६८, यज्ञो व विष्णु तत्तिरीय सहिता १—७—४।
२—शतपथ ब्रह्मण, ९—३—२—४।
३—तत्तिरीय आरण्यक ७–६–८।
४—वही ७—८।
५—वही ८—६।
६—वही ८—२।

वेदान्त के ब्रह्म के स्वरूप के निकट आती गई। ब्रह्म का रूप जो ब्राह्मण ग्रन्थो म देवताओ के रूप म प्रतिष्ठित था अब शुद्ध वेदात के ब्रह्म के समान माना जाने लगा।[1]

उपयुक्त विचारणा स यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थो म ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप पथक थे और आत्मा के स्वरूप से देवता के स्वरूप का कोई सम्बन्ध नही था। अपने-अपने ज्ञान के विकासानुसार तत्कालीन जिज्ञासुओ ने आत्मा के स्वरूप की प्रतिष्ठा पृथक पथक रूप से की है। उदाहरणार्थ शतपथ ब्राह्मण म मानव शरीर के मध्य भाग को आत्मा के नाम स अभिहित किया गया है।[2] और उसी स्थल पर रुधिर, त्वचा मास और अस्थि के लिए भी आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] उसी ग्रन्थ म मनस, बुद्धि, अहकार और चित्त के लिए भी आत्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है।[4] शतपथ ब्राह्मणान्तगत ही जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओ के लिए भी 'आत्मा शब्द का प्रयोग मिलता है।[5] पश्चात् पद आत्म तत्त्व आकाश के के साथ अभिन्न हो गया और इस प्रकार आत्मा की पथक् सत्ता स्वीकार की गई।[6]

ब्राह्मण ग्रन्थो के अतिरिक्त आरण्यक ग्रन्थो मे आत्मा के स्वरूप का सूक्ष्म चिन्तन प्राप्त होता है। किन्तु वहा भी आत्मा के साथ एक मत नही दृष्टिगोचर होता। उनमे कही आत्मा को प्राण से अभिन्न माना है।[7] तो कही इसे विज्ञानमय' तथा आनन्द मय' की सज्ञा दी गई है।[8] इसके पश्चात अन्त मे आरण्यको मे 'आत्मा सम्बन्धी विचारणा की परिणति आनन्द' मे होती है। अर्थात् आत्मा का स्वरूप चिर आनन्दमय'[9] है। ऐतरेय ब्राह्मण मे द्यावा पृथ्वी के मध्य के आकाश के साथ आत्मा का अभिन्न सम्बन्ध बताया गया है।[10] ऐतरेय आरण्यक म आत्मा-सम्बन्धी समग्र विवेचन प्राप्त होता है। आत्मा ही समस्त लोको का स्रष्टा है वह निरुपाधि तथा सोपाधि दोनो है इसका भी विवरण इसी आरण्यक म प्राप्त होता है। तदनन्तर इसी आरण्यक म चिद रूप पुरुष या ब्रह्मन के साथ इस आत्मा को अभेद बताया

१—वही ७—१—१।
२—७—१—१
३—७—१—१
४—७—१—१—१८
५—७—१—१—१८
६—जमिनीय ब्राह्मण २—५४।
७—तत्तिरीय आरण्यक ९—१।
८—तत्तिरीय आरण्यक ९—१।
९—तत्तिरीय आरण्यक ९—१।
१०—१—३—८।

गया है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में ही आत्मा को सर्वव्यापी स्वीकार करते कहा गया है कि शुद्ध चैतन्य को छोड़कर इस जगत में और किसी भी वस्तु की अवस्थिति नहीं है। देवता तथा स्थावर जंगम समग्र जगत आत्मा ही है। यही आत्मा सृष्टा है इसी में सभी पदार्थों की स्थिति है और अन्त में सभी पदार्थ इसी में लय हो जाते हैं।[2]

(२) ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में सृष्टि अथवा जगत—आत्मा अथवा ब्रह्म के क्रमिक विकास तथा स्थापना के विचार के साथ साथ ही ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में सृष्टि-व्यापार पर भी विचार प्राप्त होते हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में भी एक विचार नहीं प्राप्त होता और उन अनेक विभिन्न सम्बन्धी चिन्तनाओं से यह प्रतीत होता है कि सृष्टि सम्बन्धी-परिकल्पना भी क्रमशः ही विकसित हुई है। कुछ विचारकों ने जगत की उत्पत्ति प्रजापति से मानी है और इनके स्वरूप को स्थूल परिकल्पना में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच वायु पाँच भूत तथा मन का योग माना है। बाद को इन्हीं प्रजापति को अग्नि से अभिन्न घोषित करके सर्वव्यापक मान लिया गया है। इन प्रजापति का शरीर सृष्टि के पश्चात नष्ट हो गया और उसी से अन्न की उत्पत्ति हुई।[3] किन्हीं किन्हीं के अनुसार ऋत से प्रजापति का उद्भव हुआ और यास्क के अनुसार ऋत की सत्ता सत्य है।[4] बाद को यह ऋत ब्रह्म के साथ अभिन्न हो गया है।[5] किन्हीं किन्हीं स्थलों पर असत् और जल से भी सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख प्राप्त होता है। तैत्तरीय आरण्यक के अन्तर्गत असत् से सत की उत्पत्ति का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार सभी पदार्थों में मनुष्य की ही ऐसी सृष्टि हुई है जिसमें आत्मा का समग्र अभिव्यंजन हुआ है और इसी कारण उक्त आरण्यक सब प्रकार का ज्ञान मनुष्य में ही मानता है। मानव की उत्पत्ति का विवरण ऐतरेय आरण्यक में विस्तार से प्राप्त होता है। अर्थात् उत्पन्न होने वाला जीव पिता के शरीर में शुक्र के रूप में विद्यमान है। गर्भाधान के समय पिता हो अपनी स्त्री के उदर में शुक्र से प्रविष्ट होकर जन्म लेता है। इसी प्रकार अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सृष्टि सम्बन्धी वर्णन प्राप्त होता है।[6]

१—२—४—१—३।

२—२—६—१।

३—शतपथ ब्राह्मण, ७—१—४—१७, २३, ७—१—२—१ ६, ८—१—१—२३।

४—निरुक्त, ४—१९—९

५—तैत्तिरीय आरण्यक, १—३२ सायण भाष्य।

६—(अ) भारतीय दर्शन (श्रौत दर्शन), बलदेव उपाध्याय

(ब) दि एनसियन्ट्स आफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ १५

लेखक, एम० हिरियन्ना

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में भारतीय दर्शन की विचार धारा पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

[स] उपनिषदों मे दार्शनिक विचार

जैसा कि उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि वेद के संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक विभाग मुख्यतया उपासना के ग्रंथ हैं और गौण रूप में ही उनमें दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है यद्यपि उपासना भी दर्शन का ही अंग है। उपासना के बिना अन्तःकरण की शुद्धि असम्भव है और बिना अन्तःकरण की शुद्धि के ज्ञानोदय हो ही नहीं सकता और बिना ज्ञान के आत्मानुभूति भी पूर्णतया असम्भव है। और इसी कारण संहिता ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रंथों में उपासना के विचार के साथ साथ आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक विचारणाओं की प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है। और उपनिषदों में दार्शनिक विचारणाओं की मुख्यता के साथ साथ उपासना भी अनुस्यूत है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है वैदिक मन्त्रों को चार भागों में वर्गीकृत किया गया है—(१) संहिता भाग (२) ब्राह्मण भाग (३) आरण्यक भाग तथा (४) उपनिषद भाग। इन सभी को श्रुति कहा जाता है। प्रथम तीन भागों में स्तुति तथा यज्ञादि का प्रधानता मिली है। उपनिषदों को वेद का ज्ञान काण्ड कहा जाता है। इनमें तर्क के आधार पर दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की गई है। उपनिषदों का मुख्य विचारणीय प्रश्न 'आत्मा का स्वरूप' है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में आत्मा का स्वरूप ब्रह्म से भिन्न है किन्तु उपनिषदों के अनुसार 'आत्मा' ब्रह्म से अभिन्न माना गया है। ब्राह्मण तथा आरण्यक 'भेद' में अभेद की प्रतिष्ठा करते हैं और उपनिषदों में अनुभूति के द्वारा अभेद की स्थिति प्रतिष्ठित हुई है।

(१) उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति—'उपनिषद्' शब्द उप एवं निपूर्वक 'सद्' धातु से क्विप प्रत्यय लगाकर बना है। 'सद्' धातु का अर्थ है नाश, गति और शिथिल करना। 'उप' का अर्थ है 'समीप' तथा 'नि' का अर्थ है निश्चयपूर्वक। अर्थात् वह विद्या अथवा शास्त्र या विषय या पुस्तक जिसकी प्राप्ति से अविद्या का निश्चित रूप से नाश हो जो मुमुक्षु को ब्रह्म या विद्या के समीप ले जाकर उसका साक्षात्कार करा दे और जो संसार के बन्धनों को शिथिल कर दे उपनिषद कहलाते हैं। किन्तु वस्तुतः ये सभी अर्थ एक ही विषय की प्रतिष्ठा करते हैं।

उपनिषद की उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में अविद्या के नाश के द्वारा विद्या अर्थात् परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

ही चिर आनन्द की उपलब्धि तथा दुःखों के निवृत्ति के उपाय भी बताए गए हैं। ये ही बातें उपनिषदों की अभीष्ट स्थापनाओं के विषय हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म ज्ञान की सभी बातें उपनिषदों में प्राप्त होती हैं। उपनिषदों के पश्चात् जितने दर्शनों की उत्पत्ति हुई उन सब ने मूल रूप से उपनिषदों के सिद्धान्तों को माना है। इसलिए आस्तिक और नास्तिक दोनों प्रकार के दर्शनों पर उपनिषदों का प्रभाव किसी न किसी प्रकार से अवश्य पड़ा है और इसी हेतु उपनिषद् मूल दार्शनिक ग्रंथ हैं। उपनिषदों का परम लक्ष्य अद्वितीय अखण्ड सत् चित् आनन्द परमात्मा का विचार अथवा साक्षात्कार है।

(२) उपनिषद का मुख्य विषय—जैसा कि ऊपर कहा गया है उपनिषदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय आत्मा का स्वरूप निर्धारण है। ऊपर के विवेचन में यह स्पष्ट है कि वेद के संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक भाग में आत्मा को ब्रह्म से पृथक् ही माना गया है, उपनिषदों में आत्मा की ब्रह्म के साथ अभिन्नता प्रतिपादित की गई है।[१] उपनिषदों के एतद्विषयक प्रतिपादन में विश्व में एक आत्म तत्त्व ही रह गया। अस्तु अब द्रष्टा और दृश्य तथा ध्याता और ध्येय में कोई अन्तर नहीं रहा। बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र एक ही तत्व में समाविष्ट हो गए। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है[२] —स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमय आपोमयो पृथ्वीमय वायुमय आकाशमयस्तेजोमयो तेजोमय काममयो काममय क्रोधमयो क्रोधमयो धर्ममयो धर्ममय सर्वमयः इत्यादि।

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि समग्र स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ आत्मा के ही विग्रह हैं। उपनिषद् में आत्मा को सर्वप्रिय माना गया है इसीलिए इसे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।[३]

आत्मा अथवा ब्रह्म के लक्षण को बताना प्रायः असम्भव है फिर भी ऋषियों ने अपनी क्षमता के अनुसार अनेक प्रकार से इसके स्वरूप का निर्धारित करने की चेष्टा की है। उन्होंने कहीं तो इसके स्वरूप को 'प्राण' 'अपान' 'व्यान', 'उदान' आदि वायुओं के रूप में जो हमारे शरीर की रक्षा करती है देखा है तो कहीं भूख प्यास जरा मरण शोक मोहादि से हमारा उद्धार करने वाला माना है। कहीं पर इसके ज्ञान से ऐहिक एषणाओं से विरक्ति मानी गई है।[४] कहीं पर आत्मा को पूर्ण

१—बृहदारण्यक, २-५-१९।
२— ४-४-५
३—बृहदारण्यक, ४-५-६।
४—बृहदारण्यक, ४-५

और अखण्ड माना गया है। निष्कर्ष यह कि विभिन्न औपनिषद ऋषियों ने आत्मा के स्वरूप को अनेक विध निरूपित किया है।

(३) उपनिषद और ब्रह्म का स्वरूप—उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप की विविध व्याख्या प्राप्त होती है अर्थात् वह मूर्त भी है और अमूर्त भी। वह मर्त्य भी है और अमर्त्य भी, स्थिर तथा अस्थिर (यत्), सत् (व्यक्तभाग) तथा त्यत् (अवर्णीय) भी है।[१] इसी को परमात्मा भी कहते हैं।

(४) उपनिषद और जीवात्मा—अविद्या—विशिष्ट ब्रह्म ही 'जीवात्मा की संज्ञा पाता है। कर्म बन्धन में पड़कर वह सुख दुःख का भोग करने के लिए संसार में आता है और जन्म मरण से युक्त रहता है। इस जीवात्मा को सांसारिक स्थूल ही दुःखों का ही भोग नहीं करना पड़ता वरन् सुप्तावस्था में स्वप्नों के दुःख-सुखों का भोग करता है। और स्वप्नों के माध्यम से परलोक का भी भ्रमण करता है। उपनिषद् का कथन है कि यह जीवात्मा स्वप्नावस्था में अभिनव विषयों की सृष्टि कर लेता है।[२] परन्तु, जीवात्मा और ब्रह्म तो वस्तुतः एक ही हैं। अस्तु स्वप्न की सृष्टि भी ब्रह्म की ही सृष्टि है।

(५) उपनिषद और सृष्टि अथवा जगत का स्वरूप—सृष्टि के विषय में भी उपनिषद् में विचार किया गया है। उपनिषद् के अनुसार सृष्टि के प्रारंभ में कुछ नहीं था। केवल मृत्यु ही थी। सर्व प्रथम मन, जल, तैजस्, पृथ्वी और अन्न में प्रजापति की सृजना हुई।[३] एक दूसरे स्थल पर कहा गया है कि सर्व प्रथम पुरुष और उसके पश्चात स्त्री की सृष्टि हुई और इन दोनों के संयोग से विश्व की रचना हुई।[४] कहीं-कहीं पर यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि आकाश से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और उसी में उसका लय भी होता है।[५] इस प्रकार उपनिषदों में सृष्टि विषयक वर्णन अनेक प्रकार से प्राप्त होते हैं, किन्तु इन सभी वर्णनों से हम बड़ी सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सबसे प्रथम एक अव्यक्त तत्व था उसी से व्यक्त रूप में जगत की सृष्टि हुई। वास्तव में यह अव्यक्त तत्व ब्रह्म ही है जिससे समस्त संसार की उत्पत्ति होती है तथा उसी में वह लय को भी प्राप्त होता है। उपनिषद् भी कहता है —

१—बृहदारण्यक, २-३-१
२— स्वयं निर्माय" बृहदारण्यक, ४-३-९।
३—बृहदारण्यक, १-२ १, छान्दोग्य २-१-१-९।
४— ,, १-४-३
५—छान्दोग्य उपनिषद १ ९-१

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।
येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।'[1]

अर्थात् ब्रह्म ही जगत का निमित्त और उपादान कारण है ।

[द] गीता-दर्शन

उपनिषद युग के पश्चात की दार्शनिक स्थितियाँ बड़ी विचित्र रही हैं । उपनिषद् काल में यद्यपि दार्शनिकों में सिद्धान्त प्रतिपादन को लेकर मत भेद था फिर भी उनके दृष्टिकोणों में विशालता था और पारस्परिक व्यवहार में सद्भावना की भी कमी नहीं थी ।[2] किन्तु जो मत-अभिमान-जनित विरोधाग्नि अभी धीरे धीरे सुलग रही थी, वह अब अपने प्रचंड रूप में प्रज्वलित हो उठा । विभिन्न मतवादियों ने उन्मुक्त रूप में अपना विरोध प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया । इस विरोध का एक ही विषय था वैदिक धर्म और दर्शन । इन विरोधों के द्वारा धार्मिक तथा दार्शनिक आत्मा को महती क्षति पहुंची । इस प्रकार के विरोधी मतों की संख्या कम नहीं थी और इस दृष्टिकोण से हमारा ध्यान इस काल की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है । किन्तु उस समय के विषय में इतिहास हमें अधिक सूचना नहीं देता फिर भी जैन अंगों, बौद्ध निकायों ब्राह्मण ग्रंथों बाद के उपनिषदों तथा महाभारत से जो सामग्री प्राप्त होती है वह एक दूसरे की पूरक तो है ही साथ ही उसमें उपर्युक्त कथन की सत्यता भी प्रमाणित होती है ।[3]

विरोध से मानव के अभ्युदय और निःश्रेयस की प्रगति में भयंकर व्याघात पड़ता है । अपने मत की प्रतिष्ठा में रत रह कर व्यक्ति का मन सत्य से दूर हो जाता है । इसलिए इन विभिन्न विरोधी मतों के खण्डन तथा वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना के विषय में तत्कालीन मनीषियों ने विचार किया । उनका एतद्विषयक कार्य सिद्धि महाभारत के सुदृढ़ आलंबन में हुई । महाभारत ने समग्र अवैदिक मतों को खण्डित करके वैदिक मत को विजय घोष किया । कदाचित इसीलिए महाभारत को पंचम वेद के नाम से अभिहित किया जाता है । किन्तु यद्यपि महाभारत में अनेक दार्शनिक नैतिक राजनैतिक और सामाजिक विषयों का महत्व पूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है । फिर भी गीता ही महाभारत का बहुमूल्य तथा सारवान महत्वपूर्ण अंग है ।

गीता का आकार बहुत बड़ा नहीं है और उसका आयाम मात्र ७०० श्लोकों के अन्तर्गत है फिर भी इन ७०० श्लोकों के भीतर निःश्रेयस की प्राप्ति के जो उपाय बताए गए हैं अन्यत्र दुर्लभ हैं । सत्य का स्वरूप निर्विरोध होता है । गीता में

१—तैत्तिरीय उपनिषद् ३-१ ।
२—कठ उप० १—१—२० ।
३—भारतीय दर्शन बल्देव उपाध्याय तृतीय संस्करण पृष्ठ ८८—९२।

किसी भी मत का विरोध नही प्राप्त होता । वास्तव म गीता की महत्ता उसकी समन्वयात्मक दृष्टि मे है । गीताकार न तत्कालीन सभी दार्शनिक मता को अपनी समन्वयपरक दृष्टि स समन्वय की शृखला म अभूत पूर्व ढग स ग्रथित कर दिया है । स्थूल रूप से गीता के सिद्धान्त के विषय मे कहा जा सकता है कि वह उस व्यवहार की प्रतिष्ठा करता है जो ब्रह्म विद्या सम्मत है । अस्तु ब्रह्म विद्या के साथ व्यवहार की सगति देखने के लिए यह अत्यावश्यक है कि हम यह जान लें कि गीता के अनुसार ब्रह्म जीव और जगत आदि का क्या स्वरूप है ?

(१) गीता और ब्रह्मतत्व—यद्यपि गीता क अध्यात्म निरूपण की सुस्पष्टता मे सभी विद्वान एक मत हैं फिर भी एतदविषयक विवेचन को एक सूत्रित करके किसी निश्चित सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन दुष्कर काय है । कदाचित इसी हेतु आचाय शकर ने गीता को दुर्विनेयाथ कहा है ।[१] परम लक्ष्य अथवा परम तत्व का वणन न्यूनाधिक रूप म प्रत्येक अध्याय मे प्राप्त होता है, किन्तु आठवे तथा १३ वें अध्याय म इसका विशद वणन प्राप्त होता है । इस परम तत्व अथवा ब्रह्म का गीता विविध रूप स स्वीकार करती है, अथात वह उसे सगुण भी मानती है तथा निगुण भी, किन्तु फिर भी वह उन दोनो को अभिन्न तत्व के रूप म स्वीकार करती है ।[२] गीता के अनुसार ब्रह्म सत भी हैं और असत भी तथा वह दोनो स पर भी है ।[३] वह समग्र भूता क बाहर भी है और भीतर भी । वह अचर भी है और चर भी तथा वही दूर भी है और निकट भी ।[४] प्रथम दृष्टि म ब्रह्म की उपयुक्त उपाधियां एक दूसर की विरोधी प्रतीत होती है किन्तु वास्तव म ऐसा नही है । क्योकि वह परम तत्व समग्र उपाधियो स परे है और उसम समस्त विरोधो का पयवसान होता है ।

गीता के अनुसार भगवान म दो भावो की सत्ता है । प्रथम अपर भाव तथा द्वितीय पर भाव । अपर भाव क अन्तगत भगवान एक ही अश के द्वारा योगमाया मे सयुक्त रहते है तथा उसी अश स जगत् म अभिव्यक्त भी होत हैं । इस भगवान् का विश्वानुग रूप भी कहते हैं । किन्तु भगवान की सत्तामात्र—जगत तक ही सीमित नही है, वरन वह इसस परे भी है । और जगत म पर जो उनका स्वरूप है वास्तव म वही उनका वास्तविक स्वरूप है । उनक इसी अव्यय रूप का नाम है पर भाव अथवा विश्वातिग रूप ।[५] गीता क अनुसार ब्रह्म-सता की व्याप्ति इन्हा नाना भावो

१—तदिद गीताशास्त्र समस्ते वेदाथ सार सग्रहभत दुर्विज्ञेयाथम ।

१—सर्वेन्द्रिय गुणाभास सर्वेन्द्रिय विवर्जितम ।
असक्त सवभृच्चैव निर्गुण गुणभोक्तृ च । (गीता १३।१४)

२—११।३७ ।

३—गीता, १३।१५

४—पर भावमजानतो ममाव्ययमनुत्तमम—७।२४।

द्वारा प्रतिष्ठित हुई है। वस्तुतः भगवान अथवा ब्रह्म सर्वव्यापक है। फिर भी ऐश्वर्यवान अत्यन्त सुन्दर तथा शोभाशाली और ओजस्वी पदार्थों में परमात्मा की शक्ति का विकास अधिक प्रकट होता है।[1] गीता के दसवें अध्याय में ब्रह्म का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

(२) गीता और जीवतत्व—गीता जीव को चैतन्य होने के कारण परा प्रकृति के रूप में ग्रहण करती है। यह ब्रह्म की उत्तम विभूतियों में से है। इसे ही वह 'क्षेत्रज्ञ' की भी संज्ञा देता है। शरीर ही क्षेत्र है क्योंकि कृतकर्मों के फल को वही धारण करता है। जो इस क्षेत्र में भलीभाँति अवगत है वही क्षेत्रज्ञ है। जीवात्मा ही इस क्षेत्र अथवा शरीर के समग्र अंग उपांगों से भली भाँति परिचित है चाहे उसका यह परिचय स्वाभाविक रूप से हो अथवा किसी के उपदेश द्वारा। वैसे तो गीता के पृथक्-पृथक् अध्यायों में जीवात्मा का वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु द्वितीय अध्याय में इसके विषय में विशेष रूप से चर्चा की गई है। गीता की यह मान्यता है कि आत्मा न तो मरता है और न जन्म ग्रहण करता है। वह नित्य, शाश्वत तथा प्राचीन होते हुए भी चिर नवीन है। इस नश्वर शरीर में उसका कभी नाश नहीं होता।[2] अतएव जो व्यक्ति उसे मरने वाला अथवा मारने वाला समझते हैं वे दोनों उसमें अनभिज्ञ हैं क्योंकि वह मरने और मारने की क्रियाओं से पृथक् है।[3] जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण शीर्ण वस्त्रों का त्याग कर नवीन वस्त्रों को धारण करता है उसी प्रकार वह जीर्ण शीर्ण शरीरों को छोड़कर नूतन शरीरों को धारण करता है। गीता कहती है कि वह जीवात्मा अविकारी अच्छेद्य अदाह्य तथा अक्लेद्य है, वह शाश्वत सर्वव्यापी स्थिर, अचल तथा सनातन है।[4] यह जीवात्मा अनेक न होकर एक ही है। जिस प्रकार सूर्य समस्त जगत को प्रकाशित करता है उसी प्रकार जीव के द्वारा समस्त शरीर प्रोद्भासित रहता है।[5] गीता के अनुसार जीव ब्रह्म का सनातन अंश है।[6] ब्रह्मसूत्रान्तर्गत भी गीता के उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है और उसमें गीता की साक्षी स्मृति वाक्य के रूप में दी गई है। जीव और ब्रह्म के अंशांशी सम्बन्ध की गीता की मान्यता का क्या अर्थ है? गीता में स्पष्ट नहीं किया गया।

१—यद्यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ १०।४१ ॥

२—गीता, २।२०।

३—गीता, २।२०

४—गीता २।२०

५—गीता २।२०।

६—यही १३।३३।

७—ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः, गीता १५।७।